रामराज्य परिषद्

और

स्वतन्त्र पार्टी

प्राप्ति स्थान :—
धर्मसंघ शिक्षा मण्डल, दुर्गाकुण्ड,
वाराणसी।

अप्रैल सन् १६६०
प्रथम संस्करण—२०००
मूल्य २५ नये पैसे

प्रकाशक :—
प्रधान मन्त्री
अखिल भारतीय रामराज्य परिषद

व्यवस्थितमार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रम स्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥

(कौटल्य अर्थशास्त्र १।३।१७)

दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्याम् ज्ञानाद्वानप्रस्थ-
परिव्राजकानपिकोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान।

(कौटल्य अर्थशास्त्र १।४।१५)

शिव-पूजा-विधान



[मूल्य २५ नये पैसे

शिवप्रसादमाहात्म्यम् ।

प्रसादलाभाय हि धर्मसंचयः

प्रसादलाभाय हि देवतार्चनम् ।

प्रसादलाभाय हि देवतास्मृतिः

प्रसादलाभाय हि सर्वमीरितम् ॥१॥

शिवप्रसादेन विना न भुक्तयः

शिवप्रसादेन विना न मुक्तयः ।

शिवप्रसादेन विना न देवताः

शिवप्रसादेन हि सर्वमास्तिकाः ॥२॥

शिवप्रसादेन समो न विद्यते

शिवप्रसादादधिको न विद्यते ।

शिवप्रसादेन शिवस्य सन्निधिः

शिवप्रसादेन विशुद्धताऽऽत्मनः ॥३॥

शिवप्रसादेन युतस्य वैदिकं

न विद्यते कर्म जनस्य सुव्रताः ।

शिवप्रसादेन युतस्य तान्त्रिकं

न विद्यते कर्म तथैव किंचन ॥४॥

शिवप्रसादेन युतस्य सुव्रता

रामराज्य परिषद्

और

स्वतन्त्र पार्टी

प्रकाशकः—

प्रधान मंत्री

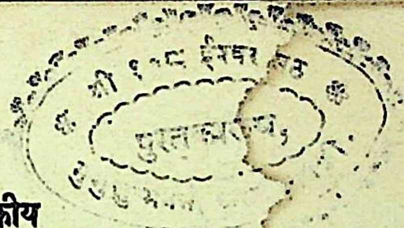
अखिल भारतीय रामराज्य परिषद्

[मूल्य २५ नये पैसे

प्राप्ति स्थान :—
धर्मसंघ शिक्षामंडल दुर्गाकुण्ड
वाराणसी

अप्रैल सन् १९६०
प्रथम संस्करण २०००

मुद्रक—
रामनिधि त्रिपाठी
मायापति प्रेस, मध्यमेश्वर, वाराणसी



प्रकाशकीय

भारत की मर्यादा और कल्याण के लिए आवश्यक वेद शास्त्रों के आधार पर रामराज्य परिषद ने अपने सिद्धान्तों को देश की जनता के सामने रखा। उसकी स्थापना के बाद भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई। लोगों में भ्रम फैला कि दोनों संस्थाएँ भारतीय संस्कृति का जब नाम लेती हैं तब इनके अलग संघटन की क्या आवश्यकता रही? इस भ्रम का निराकरण किया गया। इधर स्वतन्त्र पार्टी की स्थापना होने पर उक्त प्रकार का भ्रम पार्टी और परिषद के सम्बन्ध में फैला। अभी तक वैयक्तिक सम्पत्ति और धर्म राज्य की बात परिषद ही साहस के साथ करती थी, किन्तु अब स्वतन्त्र पार्टी ने भी इन्हीं दो सिद्धान्तों को मूल रूप में मानकर कार्य करना प्रारम्भ किया।

परिषद की बातों पर लोगों ने ध्यान दिया यह प्रसन्नता की बात है। लेकिन पार्टी वैयक्तिक सम्पत्ति और धर्मराज्य का रूप जिस प्रकार स्थित कर रही है वह परिषद की मान्यता के विपरीत है। इसलिए हमने इन दो विषयों पर परिषद के दृष्टिकोण को स्पष्टता के लिए "वैयक्तिक सम्पत्ति और आर्थिक सन्तुलन" तथा 'धर्म सापेक्ष पक्षपात विहीन राज्य' शीर्षक से अलग-अलग रखा। पार्टी की स्थिति पर "स्वतन्त्रपार्टी" शीर्षक से स्वतन्त्र विचार रखा गया। इसके बाद उसकी मूलभूत बातों पर अत्यन्त संक्षेप में उसके उन सूत्रों की समीक्षा की गयी जिनका सम्बन्ध पार्टी के सिद्धान्त से था। वैयक्तिक सम्पत्ति और धर्मराज्य की उसकी क्या धारणा है इसका भी विवेचन ट्रस्टी शिप तथा धर्म राज्य के प्रसंग में किया गया।

आशा है इस विवेचन से परिषद और पार्टी के दृष्टिकोण स्पष्टतया सामने आ जायंगे। ।जय धर्म।

विषयानुक्रमणिका

वैयक्तिक सम्पत्ति और आर्थिक सन्तुलन

सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार रामराज्य में मान्य है, जबकि भौतिकवादी राजनीतियों का विकास इससे विपरीत हुआ है। पश्चिम के राजतन्त्र ने अपने ऊपर नियन्त्रक धर्म के विरुद्ध क्रान्ति की। इसी प्रकार पूँजीपतियों ने अपने ऊपर नियन्त्रक राज्यशाही के विरुद्ध क्रान्ति करके पार्लमेण्टरी सरकार की स्थापना की और जनतन्त्र का नारा लगाया। फलतः वैयक्तिक स्वार्थमूलक शोषणका प्रादुर्भाव हुआ, क्योंकि इन दो क्रान्तियों से व्यक्ति की उद्दाम प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करनेवाले धर्म तथा राज्य दोनों की समाप्ति हो गयी और प्रतियोगितामूलक उपयोगितावादी जनतन्त्र का विकास हुआ। वहाँ के समाजशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों ने अवसर विशेष के कारण उस भ्रष्ट जनतन्त्र का समर्थन किया। बेन्थम जैसे उदार विचार वाले व्यक्ति ने भी अधिकतम लोगों के ही सुख की अभिकांक्षा की। प्रसिद्ध जीवशास्त्री स्पेंसर तथा डार्विन जैसे विद्वानों ने भी "संघर्ष में योग्यतम ही बच सकता है और उसे ही बचना चाहिए" के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। माल्थस ने इस भ्रष्ट जनतन्त्र से उत्पन्न अवस्था के असन्तुलन का उत्तरदायी जनसंख्या के सिद्धान्त से प्रकृति को बतलाया। निष्कर्ष यह है कि धर्म तथा राज्य शक्तियों के नियन्त्रण से विहीन वैयक्तिक सम्पत्तिमूलक जनतन्त्रवाद के गर्भ में शोषण तथा उत्पीड़न का जन्म हुआ। एक ओर सन्तरे सड़ रहे थे, दूसरी ओर लोगों को इलाज के लिए भी नहीं मिलते थे। एक ओर कड़ाके के जाड़े में भी महलों के लोग गर्मी से पीड़ित थे और दूसरी ओर लोग गर्मी के महीनों में भी भूख की ज्वाला से सड़कों पर ठण्डे हो रहे थे। तात्पर्य यह है कि इस परिस्थिति में ऐसे अव्यवस्थित समाज का जन्म हुआ, जिसमें एक ओर लोग अति सुख से दुःखी थे और दूसरी ओर मनुष्य जैसी अमूल्य

ईश्वर की रचना मात्र कंकाल की छाया बनकर 'माँग पूर्ति' का सन्तुलन बिन्दु बनी थी।

प्रतिक्रिया स्वरूप समाज ने वैयक्तिक सम्पत्ति के विरुद्ध नारा लगाया। सम्पत्ति का समाजीकरण, केन्द्रीकरण, राष्ट्रीकरण इत्यादि आर्थिक धारणाएँ समाज में उठने लगीं। समाजवादी, साम्यवादी, फासिस्टवादी और नाजीवादी आदि प्रवृत्तियाँ ऐसे ही विचारों का प्रतिनिधित्व करती थीं। मार्क्स ने वैयक्तिक सम्पत्ति समाप्त करके सर्वहारा के अधिनायकत्व का समर्थन किया और लेनिन ने उसका यूरोप के बड़े भूभाग रूस पर प्रयोग किया। उसका संघटन स्तालिन ने किया, जिसमें अधिनायकवाद शासन ने वैयक्तिक सम्पत्ति नष्ट करने का प्रयत्न किया। उसे कहाँ तक सफलता मिली, वहाँ की जनता ने किस प्रकार विवशतापूर्वक रक्तस्नान किया और उस स्थिति का विकास खुश्चेव के रूस में किस प्रकार मोड़ ले रहा है यह स्वतन्त्र विषय है। वहाँ की नागरिक स्थिति उस कुत्ते से अच्छी नहीं है जिसे खाने पीने, स्नान करने की तो पूर्ण व्यवस्था हो किन्तु स्वतन्त्रतापूर्वक टहलने और भूँकने पर पूर्ण प्रतिबन्ध! साम्यवाद पूँजी के केन्द्रीकरण का प्रतिवाद प्रस्तुत करता है किन्तु आज विश्व की आर्थिक व्यवस्थाओं में पूँजी का केन्द्रीकरण स्वयं रूस में सर्वाधिक है। जनता के नाम पर लेनिन, स्तालिन और खुश्चेव ने वैसे ही किया और कर रहे हैं, जैसे १४ वीं शताब्दी में लुई ने भगवान के नाम पर फ्रांस पर शासन किया था।

कहा जाता है रूस में वर्ग, जाति, शोषण के स्रोत तथा पूँजीवादी मनोवृत्ति का पूर्ण 'सफाया' हो गया है, किन्तु फिर भी शासन में खर्च का सर्वाधिक अंश आन्तरिक खुफिया, पुलिस आदि पर खर्च किया जाता है। मालेनकोव, मोलोतोव, बुल्गानिन जैसे मार्क्सवाद के यशस्वी नेता गद्दार बन जाते हैं। क्या मनुष्य पर विश्वास करनेवाले मार्क्स के काल्पनिक 'राज्य विहीन समाज' की ओर रूस के जाने का यही मार्ग है? कहने का

तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक सम्पत्ति के उन्मूलन का प्रयास तो किया गया है, किन्तु समाज में व्याप्त वैयक्तिक आकांक्षाओं के उन्मूलन के लिए सैन्य शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग का अवलम्बन नहीं किया गया। जो कोई अन्य मार्ग था उसे मार्क्स ने अफीम की गोली समझा। वस्तुतः अरस्तू के शब्दों में वैयक्तिक सम्पत्ति वह दर्पण है जिसमें मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब देखता है। आगे चलकर उसने कहा "मनुष्य का जो कुछ अपना है उसी पर वह गर्व करता है।"

रामराज्य में वैयक्तिक सम्पत्ति तो मान्य है किन्तु उसका सन्तुलन किया जाता है। वैयक्तिक सम्पत्ति की उत्पत्ति स्वत्व के द्वारा होती है। स्वत्व सात प्रकार का होता है, दाय, लाभ, विजय, अर्जन, पुरस्कार निधि और सूद। सप्तवित्तागमा धर्म्या दायो लाभो जयः क्रयः। प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्परिग्रह एव च। हम देखते हैं कि चेतन से उत्पत्ति, नियन्त्रण तथा प्रभुत्व ये तीन बातें अचेतन पर होती है। लोक में भी अचेतन सर्वस्व पर चेतन का ही स्वत्व होता है। अतएव उस परम चेतन का पुत्र ही इस अचेतन (प्रकृति) का उत्तराधिकारी हुआ। इसलिए ब्रह्मा, वशिष्ठ, दक्ष, मनु तथा इक्ष्वाकु में क्रमशः परम्परया उत्तराधिकार विकास होता है। उससे भी आगे विजय, अर्जन, दान, पुरस्कार, से स्वत्व का विकास हुआ। यहीं पर धर्म की भी बात आती है। जिसने जैसा धर्माचरण किया, उससे वैसा ही सुख साधन (स्वत्व) प्राप्त हुआ। चूँकि शुभाशुभ कर्मों में विभिन्नता है अतएव समष्टि जगत या व्यक्ति के असाधारण स्वत्व उत्पन्न होने में भी विभिन्नता होगी। जिनके शुभाशुभ कर्मों का सन्तुलन पेट भर कर जीने मात्र तक है, उनको उतना ही स्वत्व प्राप्त होगा।

उत्तराधिकार के साथ उत्तराधिकारी को अपने पूर्वजों के उत्तरदायित्व को वहन करना पड़ता है। उसकी अवहेलना पर उसे उत्तराधिकार से

भी वंचित रहना पड़ता है। मरने के समय पिता सम्पत्ति कर्म करता है। उस समय अपने पुत्रों से कहता है "त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञ, त्वं लोकः"। पुत्र उत्तर देता है "अहं ब्रह्म, अहं यज्ञः, अहं लोकः"। अर्थात् पिता पुत्र से कहता है कि अनधीत का अध्ययन करना। अकृत को सम्पन्न करना। अपूर्ण को पूर्ण करना। लोक सम्पादन को पूर्ण करना। यह तुम्हारा कर्त्तव्य है।" पुत्र उसे स्वीकार करता है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि यदि पुत्र पिता की आज्ञाओं का पालन नहीं करता तो वह असाधु है। असाधु से सम्पत्ति छीनी जा सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दाय का आधार धर्म है। धर्म हीन होना पशु का लक्षण है और उत्तराधिकार हीन व्यवस्था भी पशुता का लक्षण है। क्योंकि उत्तराधिकार वैयक्तिक सम्पत्ति में ही सम्भव है। मनुष्य में ही यह पाया जाता है। पशु में न वैयक्तिक सम्पत्ति है न उत्तराधिकार। उत्तराधिकार के लिए अपने पिता का पुत्र बनना पड़ता है जिसमें प्रत्यक्ष तथा अनुमान के स्थान पर शब्द (आगम) प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि मनुष्य में शब्द प्रमाण पाया जाता है। अतएव शब्द प्रमाण मानना मनुष्य का असाधारण लक्षण है। अनुमान तथा प्रत्यक्ष प्रमाण तो पशु भी मानता है। चूँकि मनुष्य आगम प्रमाण मानता है इसलिए माता तथा भगनी आदि का व्यवहार भी कर पाता है। न पशु में आगम प्रमाण है न माता भगनी का व्यवहार। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आगम प्रमाण के मिटने पर पशुता का विकास होगा। इसी प्रकार यह भी कह सकते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति होने पर ही हानिका डर और लाभ का लोभ। फलतः सभ्यता के विकास की सम्भावना हो सकती है।

वैयक्तिक सम्पत्ति के मानने पर विषमता का विकास होता है। पूँजीवादी देशों में इस असन्तुलन को सन्तुलित करने का प्रयास नहीं किया गया। फलतः उसकी सारी अच्छाइयाँ बुराइयों में परिणत हो गयीं,

किन्तु रामराज्य में आर्थिक सन्तुलन स्थापित करने के लिए धर्म तथा राज्यशक्ति द्वारा प्रयास किया जाता है। जहाँ पर धर्म और राज्य शक्ति दोनों की अवहेलना होती है उसे हम अराजकतन्त्र कहते हैं। सर्व प्रथम हम देखते हैं कि किस प्रकार से धर्म के आधार पर आर्थिक सन्तुलन स्थापित किया जाता है।

भोग के साथ दान, परोपकार, अतिथि-सत्कार, यज्ञादि के द्वारा धार्मिकता तथा सन्तुलन दोनों का विकास होता है सम्पूर्ण प्रकृति को ईश्वरमय समझ कर तथा सम्पूर्ण जीव मात्र को ईश्वरांश समझ कर उससे बचे हुए अंश हर्ष से स्वीकार करना ही रामराज्य की अर्थनीति का मूलमन्त्र है। **ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।** का आदर्श यही है। यही कारण है कि कोई शुद्ध भारतीय एक घूँट जल भी पीने लगता है तब उसे भगवान के चरणों में अर्पित और प्रसाद समझकर पान करता है। यद्यपि समाज में व्यष्टि के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार विषमता का निर्माण होता रहता है फिर भी प्रत्येक आस्तिक जीव मात्र को बन्धु समझ कर **(अमृतस्य पुत्राः)** सर्वथा समता की ओर अग्रसर होता रहता है। परोपकार एक व्यापक धर्म माना गया है। **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।** जब यह भाव आता है व्यष्टि अपने को समष्टि का प्रतिबिम्ब अर्थात् विराट् के रूप में समझने लगता है। नेत्र सूर्य, उदर आकाश, कुक्ष समुद्र, अस्थि पर्वत, रोमावलियां वृक्ष इस प्रकार के भाव होने पर अपने पराये का प्रश्न ही विलीन हो जाता है। उस समय समष्टि दुःख में दुखी तथा समष्टि सुख में सुखी होना पड़ता है। आत्मवत् समस्त ब्रह्माण्ड में सुख दुःख के भाव का विकास होने पर अपना दुःख और सुख का भाव ही नष्ट हो जाता है। इस अवस्था में शोषण और उत्पीड़न का प्रश्न ही कहाँ से उठ सकता है। यह भाव जहाँ तक विकसित होगा, उतने अंश में कल्याण अवश्य होगा

उपनिषदों में मधुविद्या का उपदेश दिया गया है। जिसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का सुख साधन बने। कुटुम्ब, ग्राम, प्रान्त, राष्ट्र, विश्व, पितृलोक, देव लोक, आदिकों के क्रमशः व्यक्ति में समाज के कल्याण भावना का उदय होना आवश्यक है। एक साधक सोचता है कि हे भगवन ! जगत् आपने खेलने के लिए खिलौना बनाया। कुछ दुर्बुद्धि उसमें ममता करते हैं। वस्तुतः आप ही रचयिता तथा सर्वस्व आप ही हैं। सम्पूर्ण वस्तु ईश्वरीय है। इस प्रकार सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण केन्द्रीकरण तथा समाजीकरण न होकर उसका ईश्वरीकरण होता है। उससे निरन्तर चिन्ता लगी रहती है कि वस्तु समष्टि कल्याण में ही उपयुक्त हो जाय। इस कर्त्तव्य पालन में शरीर तक का मोह नहीं रहता।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है जहाँ पर एक तरफ त्याग दान, परोपकार, आतिथ्य, सेवा इत्यादिकों के द्वारा समष्टि सेवा का भाव बढ़ाने का प्रयत्न किया, वहीं पर दूसरी तरफ व्यष्टि को प्रतिग्रह से बचने के लिए भी उपदेश दिया गया। क्योंकि धर्माधारित समाजव्यवस्था में निष्क्रियता आकाशकुसुमवत् है। उसमें पुरुषार्थ को प्रोत्साहित किया जाता है। उंछ तथा शिल वृत्ति को श्रेष्ठ बतलाया गया है। कुसूलधान्यक और कुम्भीधान्यक, त्र्यहिक, अश्वस्तनिक को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बताया गया है। 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' यह एक साधारण सी कहावत थी। स्थिति यह होती है कि देने वालों में त्याग और लेने वालों में लेने से सर्वथा दूर रहने का प्रयत्न करते थे। इस धर्म के प्रभाव से आर्थिक सन्तुलन बना रहता था। आध्यात्मिक तथा भौतिक अर्थ नीति में यही अन्तर है कि एक में देने वाले के लिए होड़ लगाते हैं किन्तु कोई लेने वाला नहीं। दूसरे में देने वाले देने से जान बचाते हैं किन्तु लेने वाले नारा लगाते हैं "लड़कर लेंगे", "मरकर लेंगे और मारकर लेंगे।" ऐसे शब्द भी धर्मशासित राष्ट्र में सुनाई नहीं पड़ते हैं।

यह तो हुई धर्माधारित समाज की व्यवस्था। व्यष्टि इन सिद्धान्तों को मानने में असमर्थता दिखाता है तो राज्य शक्ति द्वारा इन सिद्धान्तों के पालन के लिए बाध्य किया जाता है। राज्य इस बात की चेष्टा करता है कि प्रत्येक व्यक्ति निर्धारित सामान्य जीवन स्तर के सुख साधन प्राप्त कर सकें। इसके अतिरिक्त न तो वह मोटे को छील सकता है न पतले को मोटा बना सकता है। समाजवादी भी समानता से विकास के अवसर की ही समानता की बात स्वीकार करते हैं। बात भी ऐसी ही है, क्योंकि अति विषमता मिटायी जा सकती है, लेकिन पूर्ण समानता कभी स्थापित नहीं की जा सकती। विषमता के अतिरेक का प्रश्न अतिरेक (सरप्लस) से आरम्भ होता है। पूँजीवादी राष्ट्रों में लाभ अर्थात् अतिरेक का बँटवारा नहीं होता। साम्यवादी ऐसा करते हैं। रामराज्य में वैयक्तिक सम्पत्ति के होते हुए भी अतिरिक्त का बटवारा मान्य है और वह भी पांच भागों में "धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च। पञ्चधा विभजन्वित्तमिहामुत्र च मोदते।" धर्म, यश, मूल सम्पत्ति की रक्षा, स्व जीवनयापन के लिए, उद्योग में लगे स्वजनों के लिए ये पांच भाग हैं। रामराज्य में पांच भाग और साम्यवादी अर्थवादी व्यवस्था में तीन भाग क्यों है, यह तुलनात्मक विचार स्थानाभाव से यहां नहीं किया जा रहा है। यहां इतना ही पर्याप्त है कि यह विश्व की अर्थ नीति के लिए धर्माधिष्ठित रामराज्य की अर्थ नीति की अपूर्व देन होगी।

पांच विभागों में बटवारा करते समय एक अंश धनाध्यक्ष के पास स्वतन्त्र हो जाता है, अतएव अनावश्यक विषमता का बीजारोपण होता है। उसके लिए व्यवस्था यह है कि प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जिसके पास ३ वर्ष के लिए पर्याप्त सामग्री हो जाय, ज्योतिष्टोम यज्ञ करे। "यस्य त्रैवार्षिकं वित्तं पर्याप्तं भृत्य वृत्तये। अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति।" यह नित्य कर्म माना है, अर्थात् अनिवार्य। इस प्रकार पुनः

सम्पत्ति का वितरण हो कर राष्ट्र के सामान्य जीवनस्तर पर व्यक्ति पहुँच जाता है। इतने पर भी यदि व्यक्ति अति विषमता की ओर उन्मुख हुआ और उसके पास सम्पत्ति इकट्ठी होने लगी तो इसका अर्थ यही समझा जायगा कि उसने समाज के साथ चोरी की है। अतएव वह चोर है, उसे चोर की तरह दण्ड देकर पेट भर अन्न के मार्ग पर पुनः ला दिया जाय। **"यावद्भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्। ततोऽधिकं योमन्येत सस्तेनो दण्डमर्हति।"**

जैसा कि बतलाया है कि उत्तराधिकार के नियम में यह बात है कि उत्तराधिकारी समष्टि कल्याणमूलक परम्पराओं का अवश्य पालन करे, अन्यथा उसे उत्तराधिकार से भी वंचित किया जा सकता है। क्योंकि इस स्थिति में व्यक्ति असाधु माना जाता है और उससे सम्पत्ति छीनी जा सकती है। लेकिन वह सम्पत्ति राज्य अपने हाथ में न लेकर साधु व्यक्ति के हाथ में दे देना आवश्यक होता है। मनु ने कहा है **"योऽसाधुभ्यो धनमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति। स कृत्वा प्लवमात्मानं तारयेत्ता वुभावपि।"** राज्य आर्थिक सन्तुलन की सदा चेष्टा किया करता है। जो व्यक्ति निर्धन हो गया है, उद्योग में जिसे सफलता न मिली, फिर भी वह योग्य हो तो राज्य का कर्त्तव्य होता है कि वह उसे बिना ब्याज का धन दिलाये। इस प्रकार राज्य सहायता देकर, दिलाकर व्यक्ति का उत्थान करता है। हां! राज्य इस बात की चेष्टा करता रहता है कि "सहायता देने वाला कहीं स्वयं सहायता पाने की हालत में न आ जाय"। अर्थात् "एक वर्ग पर व्यक्ति की उन्नति का तात्पर्य सम्पूर्ण समाजकी उन्नति है" यह भाव राम-राज्य में ही सम्भव है। शस्त्र और शास्त्र दोनों के उचित प्रयोग से राज्य शक्ति और वैयक्तिक सम्पत्ति में ऐसा सम्बन्ध बनता है कि आर्थिक संतुलन बना रहे।

धर्मसापे पक्षपात विहीन राज्य

प्रस्तुत विषय पर जब हम विचार करते हैं तो धर्म सापेक्ष राज्य पश्चिम की प्रयोगशाला का बहिष्कृत विषय है जिस पर विचार करना विश्व को पीछे विनाश के गर्त में ले जाना होता है। भारतवर्ष में जब धर्म सापेक्ष राज्य की बात कही जाती है तो तत्काल पश्चिम का दृश्य सामने आता है और भारतीय आधार पर बिना विचार किये उसकी उपेक्षा इस रूप में होने लगती है कि लोग इस विषय पर बात भी नहीं सुनना चाहते। इस अवस्था में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। वस्तुतः भारतीय और पश्चिमी धर्म सापेक्ष राज्य में महान और मूलभूत भेद हैं। इसे दृष्टि में रखना आवश्यक है।

पश्चिम में यूनानी राज्य की प्रतिक्रिया जब यूरोप पर हो रही थी और उसका पर्यवसान मध्ययुगीन राजनीति में हो रहा था, तो उस समय राज्य और धर्म के सम्बन्ध का एक विलक्षण रूप सामने आया—पुरोहितों और राजाओं का। ईसाई धर्म के अभ्युदय के बाद ईसाई पुरोहितों का शक्ति-विकास समाज में इस रूप में हुआ कि वे केवल राज्याभिषेक की धार्मिक क्रियाओं का ही सम्पादन नहीं करते अपितु वे राजाओं के अधिकार का भी निर्णय करते थे। पुरोहितों की संस्था का संघटन होने लगा, जिसके प्रधान पोप कहे जाते थे। इनका शासन राज्य से परे और स्वतंत्र होता था, और कहीं राज्य से ऊपर भी। आगे चलकर राजाओं और पोपों में संघर्ष भी हुआ। पश्चिम में पोपों द्वारा संचालित और नियंत्रित राज्य राज्य व्यवस्था को धर्म सापेक्ष राज्य कहा गया। जब राजाओं ने पोपों की शक्ति समाप्त कर दी और उन पर राज शक्ति का प्राधान्य स्थापित किया तो दो प्रकार के विचारक राज्य-पक्ष से भी आये। एक वे जो राज्य संचालन में राज्य के हस्तक्षेप को मान्यता देना चाहते थे। दूसरे विचारक

वे थे जो राज्य की शक्ति को चर्च या पोप की शक्ति के ऊपर ही नहीं अपितु उसमें संशोधन, परिवर्धन और नियन्त्रण का पूर्ण अधिकार मानते थे। राज्यशक्ति की इस व्याख्या ने धर्मनिरपेक्ष और सर्वाधिकारवादी राजनीति को जन्म दिया। जिसकी दोनों धारायें आज भी विश्व की राजनीति में कार्य कर रही हैं।

पश्चिम में धर्म के प्रति एक और विद्रोह हुआ, जिसका भी राजनीतिक महत्त्व है। पश्चिम में व्यवहृत जितने धर्म या सम्प्रदाय थे, वे परिस्थिति विशेष में व्यक्ति विशेष से व्याख्यात या उपदिष्ट हुए। मानवकल्याण के लिए उनमें पर्याप्त तथ्य तो थे; किन्तु वे दर्शन का रूप धारण करने में असमर्थ थे। फलतः उनकी उक्तियाँ ही शाश्वत सत्य का रूप लेने लगीं। अनुयायियों में उन उक्तियों के प्रति शाश्वतिक विश्वास भी हो गया जबकि उनका सम्बन्ध शाश्वतिक शक्ति की उस चिरन्तन धारा के साथ कभी भी नहीं हो पाया था, जिसके साक्षात्कार के माध्यम से श्रेय और प्रेय दोनों का त्रिकालत्व हस्तामलकवत स्पष्ट कर सकें। परिणाम इसका यह हुआ कि इतने अंश में पश्चिमी धर्म अन्ध श्रद्धा का विषय बनने लगा। जबकि उसके अनुयायी उसे सार्वकालिक और सार्वजनिक मानने का हठ नहीं छोड़ पाये। प्रकृति के रहस्यों के प्रति सहज जिज्ञासा जब वहाँ नया रूप धारण करने लगी तो वहाँ के धर्म की मान्यताओं से विरोध होने लगा। प्रमाण के लिए वहाँ की धार्मिक मान्यता के अनुसार पृथ्वी की आयु ७००० वर्ष की हुई। बहुत दिनों तक वैज्ञानिक भी यही रट लगाते रहे और समग्र इतिहास इतने ही काल में पर्यवसित करते रहे। खेद है कि भारतीय विद्वान आज भी उतने काल के पूर्व के इतिहास को प्राक्कालिक इतिहास कहते हैं; जबकि पश्चिमी विचारकों ने इस मत में परिवर्तन कर लिया। अस्तु गैलो-लियो ने कहा पृथ्वी गोल है और सूर्य के चारो तरफ घूमती है। यह मान्यता ईसा की उक्ति के विपरीत थी; अतएव उसे नास्तिक कहकर उसका

धार्मिक वध किया गया। लेकिन विज्ञान का चरण आगे बढ़ा। प्रकृति के रहस्य जिस रूप में सामने आने लगे वे "ब्राह्म वाक्यं प्रमाणं स्यात्" के विपरीत पड़ने लगे। विज्ञान की मान्यता को धार्मिक घोषणाओं से समाप्त किया जाने लगा। यद्यपि सत्य के विपक्ष में घोषणाएँ तो समाप्त हो गयीं, किन्तु एक गम्भीर प्रभाव प्रवाहित हो गया कि विज्ञान पश्चिम में धर्म विरोधी हो गया। फलतः वैज्ञानिक क्षमताओं पर विकसित राजनीति में धर्म अपांक्तेय हो गया।

एक तीसरी बात भी महत्त्वपूर्ण हुई जिसका धर्म का राजनीतिक सम्बन्ध निश्चय करने में प्रमुख हाथ रहा। धर्म कहीं भी मात्र उपासना या धार्मिक कृत्य के रूप में नहीं रहा है, उसका सामाजिक प्रयोग में भी हाथ रहा है। पश्चिम में जब उसकी मान्यता समाप्त होने लगी तो उसने कुछ क्षेत्रों में स्थिर रहने का प्रयास किया, कुछ स्थानों में समझौता। जहाँ स्थिर रहने का प्रयास किया वहां शक्तिधरों के पृष्ठपोषक के रूप में अपने को स्थिर रखना चाहा, अतएव शक्तिधरों ने शोषण और उत्पीड़न को न्यायोचित धार्मिक व्याख्याओं के द्वारा किया। फलतः धर्म शोषकों का दलाल या एजेंट बन गया। जहां समझौता किया वहां इसने समाज के क्षेत्र से अपने को हटा कर मात्र उपासना और कृत्यों के रूप में अवशिष्ट कर लिया। अतएव धर्म की सामाजिकता समाप्त हो गयी और वह केवल वैयक्तिक रह गया।

जब भारत में धर्म की बात की जाती है तो आधुनिक विचारकों के सामने तत्काल वही पश्चिमी दृश्य और विशेषता सामने आने लगती है। वे तुरन्त कह देते हैं, वैज्ञानिक युग में धर्म को क्या आवश्यकता, धर्म वैयक्तिक चीज है उसका राजनीति से क्या प्रयोजन, धर्म सदा शोषण और उत्पीड़न की दार्शनिक व्याख्या करता रहा। आज समाज के विकसित चरण में धर्म का कोई महत्त्व नहीं आदि आदि। खेद के साथ कहना पड़ता है कि तथाकथित भारतीय विद्वानों ने कभी भी भारतीय ढंग से

यदि भारतीय धर्म-परम्परा का अध्ययन किया होता तो सम्भव है आज की भारतीय स्थिति में भारतीयता का प्रयोग विश्व को नया सन्देश दे सकता था।

जिस सन्दर्भ को हमने ऊपर प्रस्तुत किया है वास्तव में भारत की परम्परा में उसका कोई स्थान नहीं। न तो भारत में कभी पोपों जैसी संस्था रही न-ही वैज्ञानिक सत्य के साथ "बाबा वाक्यं प्रमाण स्यात्" का कभी हठ। शोषण उत्पीड़न का समर्थन कभी भारतीय धर्मशास्त्रों ने नहीं किया। विश्व में अन्य धर्मों की स्थिति जब हम देखते हैं तो धार्मिक अर्थ-शास्त्र नामक कोई वस्तु ही नहीं; जब कि भारतीय धर्म विज्ञान ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का व्यावहारिक और वैज्ञानिक अध्ययन और प्रयोग किया।

फलतः धर्म सापेक्ष राज्य का तात्पर्य यह हुआ कि राजनीति, अर्थ-शास्त्र, समाजशास्त्र, कला, इतिहास आदि का प्रयोग और व्याख्या धर्म के आधार पर की जाय और उसे जीवन में व्यावहारिक रूप दिया जाय। राज्य इस व्यवस्था का कार्यान्वयन करे, न कि संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धन। धर्म सापेक्ष राज्य का कथमपि यह तात्पर्य नहीं कि किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष का शासन हो और अन्य धर्म या सम्प्रदाय शासन से दूर और उपेक्षित रहें। समाज का जो अंग जिस धर्म में विश्वास रखता हो उसे उसके अनुकूल जीवन बिताने की पूर्ण स्वतन्त्रता और व्यवस्था होना चाहिए। कल्याणकारी राज्य समाज के कल्याण और लक्ष्य की स्वयं व्याख्या करने लगता है। इसका फल यह होता है कि वह सामाजिक मान्यताओं में सामाजिक संघटनों की मर्यादा के विपरीत परिवर्तन और संशोधन करने लगता है। यहीं हमारा उससे विरोध उत्पन्न हो जाता है। वस्तुतः समाज में कौन सा अंश अपेक्षित और आवश्यक है इसका निर्णय समाज के घटक स्वयं करें। राज्य केवल वातावरण प्रस्तुत करे कि समाज में स्वयं संचालन की शक्ति आये। उसके स्वयं संचालन में जहां बाधा हो उसे दूर करना राज्य का कर्तव्य है। इस अवस्था में धर्म, परम्परा की रक्षा तो

होती ही है साथ ही समाज राज्य की अपेक्षा न कर स्वयं अपनी व्यवस्था करने की शक्ति रखता है। नौकरशाही के स्थान पर सहकारिता और सहयोग सहज रूप में सामने आते हैं। आज समाज के कार्यों को राज्य ने जितने अंश में अपने हाथों में लिया, उतने अंश में समाज निष्क्रिय हो गया।

धर्म सापेक्ष राज्य में सबसे बड़ी बाधा यह पड़ती है कि राज्य में विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के लोग रहते हैं। यदि उनकी मान्यता में परस्पर विरोध है तो धर्मसापेक्ष स्थिति कैसे टल सकती है ? दूसरी बात यह है कि धर्म सापेक्ष राज्य के कारण ही यूरोप में धर्म के नाम पर संघर्ष और लज्जाजनक रक्तपात हुआ है। क्या उस स्थिति को पुनः लाया जाय ? वस्तुतः पश्चिम में धर्मराज्य नहीं था, अपितु धार्मिकों का सत्ता पर अधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष था। जिस सम्प्रदाय ने राज्य शक्ति को प्रभावित कर लिया उसने अन्य सम्प्रदायों के उत्थान में बाधा पहुँचायी। इसमें संघर्ष हुआ। भारतीय धारणा से राज्यशक्ति किसी सम्प्रदाय के हित का साधन नहीं है। उसे तो धर्मानुकूल प्रतिष्ठित करने का प्रश्न है।

इस प्रश्न को व्यावहारिक रूप में समझ लेना आवश्यक है। देश में एक धर्म विभाग हो उसमें सभी धर्मों के मान्य आचार्य प्रतिनिधि रूप में हों। जिस धर्म की व्यवस्था का प्रश्न हो वे अपना निर्णय दें और राज्य उस निर्णय को कार्य रूप में परिणत करे। कहीं कहीं धर्मों में परस्पर विरोध भी आता है। जैसे मुसलमान गोहत्या का सम्बन्ध धार्मिक कृत्य के साथ जोड़ते हैं और हिन्दू गोरक्षा अपना पवित्र कर्त्तव्य मानते हैं। ऐसे स्थलों पर यह बात ध्यान में रखना पड़ेगा कि ऐसे अंश नित्य धर्म हैं या नैमित्तिक। नित्य धर्म वैयक्तिक होते हुए सामाजिक हो जाते हैं। नैमित्तिक धर्म सर्वथा वैयक्तिक होते हैं। समाज के निमित्त से किये कृत्य सामाजिक

भी होते हैं। यदि व्यक्ति नैमित्तिक कर्मों के द्वारा अपना कल्याण करता है और समाज को हानि पहुँचाता है तो आवश्यक है कि ऐसे कृत्यों और धार्मिक मान्यताओं पर प्रतिबन्ध लगाया जाय। जहाँ तक ज्ञात है गो बलि इस्लाम में विहित नहीं है। हो भी तो वह नित्य कर्म के रूप में नहीं है। विश्व के किसी धर्म में नित्य कर्म समष्टि विरोध में नहीं है न तो परस्पर उनमें संघर्ष है। इस प्रकार की ही राज्यव्यवस्था को हम धर्म सापेक्ष पक्षपात विहीन राज्य कहते हैं। इसी में अल्प संख्यकों की मान्यताओं का भी रक्षण होगा और राष्ट्र के साथ विश्वासघात भी नहीं कर सकते।

स्वतन्त्र पार्टी

गत २ अगस्त को बम्बई में स्वतंत्र पार्टी ने अपना लक्ष्य, नीति तथा मार्ग अन्तिम रूप से देश के विभिन्न राज्यों से आये १००० प्रतिनिधियों के बीच में घोषित किया। दो दिन की कार्यवाही में ११ वक्ताओं ने अपने मन्तव्य प्रकट किये। अमीर-गरीब सबकी वैयक्तिक स्वतंत्रता की सुरक्षा-ध्यान में रखते हुए २१ सूत्रीय कार्यक्रम स्वीकार हुआ, जब कि दो मास पूर्व मद्रास में चतुर्दश सूत्रीय कार्यक्रम की रूपरेखा बनायी गयी थी।

पार्टी के नेता रंगा ने कांग्रेस पर आक्षेप करते हुए कहा कि "कांग्रेस का नेतृवर्ग शक्ति से मदान्ध होकर देश के सामाजिक और आर्थिक आधार को नष्ट कर रहा है।" सीतलवाद के वाक्य को उद्धृत करते हुए पार्टी के प्रमुख प्रवर्तक चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने कहा कि—"देश में सशक्त विरोधी दल की अत्यन्त ही आवश्यकता थी-उसकी पूर्ति के लिए स्वतंत्र पार्टी आवश्यक है।" आगे आपने कहा कि कांग्रेस देश को साम्यवाद की ओर ले जा रही है। देश में एक तरफ हृदय परिवर्तन के मध्यम

से कृषि-व्यवस्था में सुधार के लिए भूदान आंदोलन चलाया जा रहा है दूसरी तरफ सहकारी कृषि की भूमिका में अनिवार्य कृषि नीति का प्रयोग चल रहा है। इसका क्या तात्पर्य ? नेहरू जी की कांग्रेस समाजवाद के उस रूप में प्रवेश कर रही है जिसमें राज्य या पार्टी सर्वाधिकार वादी "लेवियाथन" का रूप धारण कर लेगी। राज्य उन क्षेत्रों पर अधिकारारूढ़ हो रहा है जिनकी उसमें योग्यता नहीं है।

अपने उद्देश्यों को व्यक्त करते हुए आपने राज्यव्यापार, चकबन्दी संगठन और सहकारिता का खंडन किया। उन्होंने कहा कि ऐसा करने पर एक दलीय सर्वाधिकारवादी सत्ता स्थापित हो जाती है और नाम लिया जाता है समाजवाद का। जहाँ तक पार्टी की शक्ति का प्रश्न है अभी उसका अस्तित्व जनता में नहीं है। देश के पुराने नेता, बुद्धि-जीवी वर्ग तथा व्यापारिक वर्ग अभी संस्था का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। कांग्रेस की स्थापना भी बम्बई में हुई थी, उस समय कांग्रेस भी इसी प्रकार के व्यक्तियों का संघटन था जो जनता की अपेक्षा प्रतिष्ठित व्यक्तियों के मंच तक ही सीमित था। अतएव यदि स्वतंत्र पार्टी ने कोई स्थायित्वपूर्ण रूप धारण किया तो जनता में भी इसका अस्तित्व प्रसार हो सकता है। अभी इसने कांग्रेस से असंतुष्ट व्यक्तियों, बौद्धिक नेताओं को आकर्षित किया है लेकिन इसका रूप प्रजा समाजवादी पार्टी के रूप में नहीं है। इसने कांग्रेस के वाहर की प्रतिभाओं को भी आकर्षित किया है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि देश में समाजवादी विचार के विरोध की अखिल भारतीय स्तर की भूमिका बन रही थी। जो लोग कांग्रेस में समाजवाद के समर्थक नहीं थे उन्हें प्रतिक्रियावादी तत्व समझकर जनतांत्रिक सफाया का द्वार देखना पड़ा। इस प्रकार संघटन में मुख्यतः समाजवादी विचारधारा के तथा सत्तारूढ़ संस्था की गतिविधि के प्रति असन्तोष है। अभी दिल्ली की प्रेस कान्फरेंस में नेहरू जी ने कहा कि

स्वतंत्र पार्टी के लोग राजनीतिक क्षेत्र में 'हताश प्रतिक्रियावादी' हैं और जिनको हमने काम नहीं दिया उन्होंने इस प्रकार की आलोचना के लिए एक पार्टी का रूप बना लिया। स्वतन्त्र पार्टी के लोग अतीत का भूत देश के ऊपर लाद कर देश को पीछे ले जाना चाहते हैं। कांग्रेस अध्यक्षा ने भी इसी प्रकार की समालोचना की है लेकिन नेहरू जी की समालोचना समीचीन नहीं कही जा सकती। समाजवाद को ही वे कल्याण का अन्तिम अस्त्र माने बैठे हैं इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग प्रति-क्रियावादी और देश में विनाशकारी हो सकता है। 'किसी को काम नहीं मिला अतएव वह एक संस्था का संघटन करे' नेहरू जी की यह समा-लोचना वैयक्तिक होते हुए भी अजनतांत्रिक है। ऐसी समालोचनाओं से देश में जनतंत्र का भविष्य अच्छा नहीं हो सकता।

वस्तुतः कांग्रेस का संघटन स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए हुआ था। लक्ष्य आधार आदि के विषय में गांधी जी के पूर्व कांग्रेस अस्पष्ट, यहाँ तक कि मौन रहा करती थी। गांधी जी के समय में कांग्रेस के भीतर विभिन्न विचार के लोग वर्तमान रहे। आज जब समाजवाद का रूप स्पष्ट होने लगा तो उसमें विपरीत विचार के लोगों के लिए, यदि वे सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं, स्थान नहीं रहा साथ ही राजनीतिक जीवन में क्रिया-शीलता के कारण अवश्यम्भावी है कि अपना संगठित रूप भी बनायें। यदि वह जनतांत्रिक है तो उसका सदनको स्वागत करना चाहिए। गन्दी समालोचनाओं से वातावरण दूषित होता है।

आज राजनीतिक क्षेत्र में वैज्ञानिक अनुसंधान का महत्व इतने अंश में स्वीकार्य हो गया कि राजनीतिक व्यवहार में भी उसका प्रभाव पड़ रहा है। समाजवाद उसी विकास का एक प्रायोगिक रूप है। साधनों के विकास के साथ केन्द्रियता वादी स्थिति स्वयं उपस्थित हो जाती है, जिसका समन्वय करना कठिन हो जाता है। पूंजीवाद की प्रतिक्रिया का मुख्य कारण यही

है। पश्चिम के पूंजीवाद ने जनतंत्र के साथ कुछ दिनों तक समझौता बना रखा था। किन्तु आर्थिक क्षेत्र में प्रविष्ट व्यक्तिवाद ने शोषण का जो रूप सामने रखा उनका समर्थन नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता आवश्यक है किन्तु वह वर्ग विशेष को उपलब्ध हो यह व्यवस्था कथमपि सम्भव नहीं। राजाजी ने भी व्यक्तिवाद का जो रूप स्वीकार किया है, सामाजिक न्याय की जो बात उठायी है, कहीं वह शोषण के साथ समझौता न कर ले। इस विषय पर रामराज्य और स्वतंत्र पार्टी के सम्बन्ध के विषय में आगे विचार किया जायेगा।

राजा जी ने स्वतन्त्र पार्टी के माध्यम से समालोचना का मार्ग जिस रूप में सामने रखा है उससे उनकी पार्टी स्वयं निषेधात्मक हो गयी। पार्टी के सामने ऐसे प्रश्न आयेंगे। जो अतीत के प्रश्न से उलझे रहेंगे। राजा जी हिन्दी के विरोधी रहे हैं। उत्तर-दक्षिण की भी बात उन्होंने सकारात्मक रूप में देख ली है। आज राजनीतिक संस्थाएं समाज का भी दर्शन प्रस्तुत कर रही हैं। सम्भवतः तत्काल राजा जी इस विषय में मौन रहें किन्तु अधिक दिनों तक यह चुप्पी नहीं चल सकेगी। कोई संस्था केवल विरोध के लिए नहीं होती उसका सकारात्मक पक्ष भी होना आवश्यक होता है।

राज्य के अधिकार के विषय में राजाजी का दृष्टिकोण स्पष्टतः व्यक्तिवादी है जो ज्यों का त्यों नहीं लागू हो सकता। प्रमाण के लिए उत्पादन के क्षेत्र में वे वैयक्तिक क्षमता का विकास तो चाहते हैं, किन्तु राज्य और व्यक्ति के अधिकार-क्षेत्र के निर्णय पर चुप रह जाते हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा, सीमावर्ती क्षेत्र का उद्योगीकरण, बड़े पैमाने पर औद्योगिक विकास, राष्ट्रिय दृष्टि के समन्वय के साथ औद्योगिक स्थापना आदि को क्या वैयक्तिक क्षेत्र में रखा जा सकता है? यदि नहीं तो मिश्रित अर्थव्यवस्था स्वयं उपस्थित हो जाती है, जो राज्य के आर्थिक क्षेत्र को विस्तृत कर देती है। इस प्रकार अन्य भी प्रश्न उठेंगे जिन पर स्वतंत्र पार्टी को स्पष्ट होना पड़ेगा।

पटना अधिवेशन की कार्यवाहियाँ बम्बई के सूत्रों की व्याख्या हैं। स्वतन्त्रपार्टी ने जिन सिद्धान्तों को स्वीकार किया है उनका सम्बन्ध परिषद् के सिद्धान्तों के साथ दिखायी पड़ता है। इसका परिणाम यह हुआ कि अपने कार्यकर्त्ताओं तथा बाहर के मनीषियों में दोनों के परस्पर सम्बन्ध के प्रश्न पर चर्चाएँ चलीं। कुछ पत्रों ने यह भी छापना प्रारम्भ किया कि परिषद पार्टी में मिल रही है। अतएव आवश्यक हो गया कि दोनों की स्थिति स्पष्ट कर दी जाय। ऐसा करने में दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है पहला तो सैद्धान्तिक दूसरा व्यावहारिक। परिषद के सिद्धान्त वेदों से लेकर स्मृतियों तक में अनन्त काल से व्यवहृत और व्याख्यात होते रहे हैं। हमारी मान्यता के वे ही आधार हैं। इतना अवश्य है कि उन विचारों को आज की भाषा में देना आवश्यक हो गया है। व्यवहार के साथ जहाँ तक प्रश्न है उसमें यह देखना है कि पार्टी राजनीतिक व्यवहारों, जैसे गृह, परराष्ट्र नीति आदि में क्या रुख ले रही है ?

पार्टी का सिद्धान्त क्या है, अभी तक इस सम्बन्ध की जानकारी के लिए उसके २१ सूत्र ही मुख्य रूप से सामने हैं। फलतः उनकी कुछ समीक्षा करके देखना आवश्यक है कि पार्टी और परिषद में सैद्धान्तिक समता कहाँ तक है ?

स्वतंत्र पार्टी कांग्रेस की कुर्सी का विरोध कर रही है और परिषद कांग्रेस के सिद्धांत का। पार्टी का विचार है कि कांग्रेस अपने सम्विधान का पालन करे पुनः उसका कोई विरोध नहीं। स्वतंत्रपार्टी में आँख मूँद कर सम्मिलित होने की जल्दीबाजी में लोग इस बात पर भी ध्यान नहीं दे रहे हैं कि पार्टी कर क्या रही है ? इस पर रामराज्य परिषद के अध्यक्ष ने आरा के भाषण में इस ओर ध्यान आकर्षित कराया उसके कुछ अंश को हम ज्यों का त्यों यहाँ दे रहे हैं :—

"स्वतन्त्र पार्टी कांग्रेसी संविधान को अपना आधार मानती है जिसका परिषद् ने विरोध किया। यदि अपने संविधान का पालन कांग्रेस ने किया, जैसा कि असम्भव नहीं, तो स्वतन्त्र पार्टी का अस्तित्व कहाँ रह जाता है ? स्वतन्त्र पार्टी के कर्णधार कांग्रेस का विरोध जिन अंशों में आज कर रहे हैं, उनका बीजारोपण जब हो रहा था तो वे भी कांग्रेस एवं कांग्रेसी सरकार में प्रतिष्ठित पदों से उनका समर्थन कर रहे थे। पार्टी व्यक्तिगत सम्पत्ति की वकालत करती है साथ ही गान्धी वादी ट्रस्टीशिप भी मानती है जो कि व्यक्ति के पक्ष में नहीं है। इतना अवश्य है कि पार्टी उद्योगपतियों द्वारा शोषण के लिए 'स्वतन्त्र व्यापार और स्वतन्त्र उद्योग' चाहती है, इसीलिए उसका नाम स्वतन्त्रपार्टी रखा गया। अन्यथा नियम और लक्ष्य में बँधे संघटन को स्वतन्त्र कैसे कहा जा सकता है ?"

देश के विभाजन के मूल पुरुष राजाजी आज खण्डित भारत को भी खण्ड खण्ड करना चाहते हैं। देश की राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर उत्तर दक्षिण के विष बीज का आरोपण आपने ही किया। राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति के समय वे अपने को समग्र राष्ट्र का नेता मानते हैं, किन्तु हिन्दी के प्रश्न पर वे अपने को दक्षिणी समझने लगते हैं। अभी पटना में उन्होंने कहा था कि हम उस क्षेत्र से आते हैं जिस पर हिन्दी नहीं लादी जा सकती। यहाँ राजाजी क्षेत्र विशेष के व्यक्ति हो गये।

वस्तुतः पूंजीपतियों और राजाओं के चंगुल में फँसे राजाजी समग्र राष्ट्र की मूर्ति का साक्षात्कार नहीं कर पा रहे हैं। अभी पंजाब के दौरे के समय अकालियों की खुशामद में उन्होंने पंजाबी सूबे का समर्थन किया—यद्यपि वे सिक्ख और हिन्दू दोनों में किसी एक को सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहे। जालन्धर में उन्होंने कहा "यदि तुम हमारा साथ दोगे तो तुम्हें पंजाबी सूबा मिलेगा" अमृतसर की सार्वजनिक सभा में अपने को संभालते हुए उन्होंने कहा 'जो उनका साथ 'स्वतन्त्रता' के संघर्ष में देगा, वह किसी

स्थानीय मांग को पूरा करने में समर्थ हो सकेगा।" इसका स्पष्टीकरण उन्होंने वहीं प्रेस कानफरेंस में किया "कोई चीज जिसे समाज चाह रहा है उसे अवश्य मिलनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि पंजाबी सूबा आ रहा है।" यहाँ राजाजी ने पंजाबी सूबा के साथ उस आधार को स्पष्ट किया जिससे भारत के पूर्वीय और पश्चिमी समाज ने जो चाहा था उसे राजाजी ने दिलाया था अर्थात् पाकिस्तान ! आज भी केरल में मुस्लिम लीग के नेतृत्व का खयाल राजाजी को है, क्योंकि उसकी भी मांग पूरी करनी है, तब ईसाइस्तान का प्रश्न आयेगा और राजाजी उसका भी नेतृत्व करेंगे।

धर्मराज्य

अपने मनोरथ के लिए उन्होंने उन उद्देश्यों को ग्रहण किया जिससे जनता में अपना अस्तित्व जमा सकें। २० मार्च को पटना में राजाजी ने कहा "स्वतन्त्र पार्टी धर्मराज्य चाहती है।" धर्मराज्य कैसा होगा इसकी व्याख्या करते हुए आपने "संविधान से सभी धर्मों को समानाधिकार की गारण्टी दी है किन्तु समानाधिकार की पूर्ति न होने से धार्मिक अल्प संख्यक वर्ग चिल्ल-पों मचाते हैं। हम प्रतिज्ञा करते हैं कि सम्विधान की सभी व्यवस्थाओं को कार्यरूप में परिणत करेंगे।" राजाजी का धर्मराज्य केवल अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए है जिसमें पाकिस्तान, ईसाइस्तान सिखिस्तान आदि के बीज हैं जिसकी स्थापना राजाजी जैसे मानवतावादी के लिए आवश्यक है। अन्यथा जिस सम्विधान की व्यवस्थाओं के लिए राजाजी प्रतिज्ञा करते हैं वह देश के ३३ करोड़ हिन्दू, हिन्दुओं की धार्मिक मान्यता, जैसे उपासना, विवाह, उत्तराधिकार, अन्तर्जातीय सम्बन्ध आदि में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करता है। अभी जो कुछ शेष है उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए वे प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

धर्मराज्य के लिए मूल प्रश्न है कि क्या राज्य धर्म में हस्तक्षेप कर सकता है। यदि राज्य जनकल्याण के नाम पर धर्म में सुधार कर सकता है तो वह

धर्मराज्य नहीं हो सकता है। राजाजी के शिष्य रंगाजी ने २१ मार्च को पटना में ही कहा कि हम कल्याणकारी राज्य का समर्थन करते हैं। इस अवस्था में धर्मराज्य की बात केवल उपहासास्पद ही है। सबसे बड़ी बात है कि स्वतन्त्र पार्टी गान्धीजी की शिक्षा और सिद्धान्त को अपना मार्गदर्शक मानती है। इधर एक शिष्य कल्याणकारी राज्य का स्वप्न देख रहे हैं और दूसरी ओर गान्धीजी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी विनोबाजी ने 'स्वराज्यशास्त्र' नामक पुस्तक में कल्याणकारी राज्य का खण्डन किया है।

इस प्रकार रामराज्य परिषद् और स्वतन्त्रपार्टी के तुलनात्मक विवेचन से हम देखते हैं, दोनों में मूलभूत भेद है। सैद्धान्तिक मतभेद के साथ व्यावहारिक अन्तर कम नहीं है। पार्टी पंजाबी सूबा तथा इस प्रकार के अन्य क्षेत्रीय स्वतन्त्रता, भाषावार विभाजन के द्वारा देश की एकता समाप्त करने पर तुली है। राष्ट्रभाषा के विषय में उसका दृष्टिकोण असमीचीन ही नहीं उपेक्षणीय है। फलतः पार्टी की वर्तमान स्थिति के साथ परिषद् का सम्बन्ध होना असम्भव है।

परिषद् के सिद्धांत अत्यन्त स्पष्ट और शाश्वतिक हैं। उसकी मान्यता कभी न कभी अवश्य स्वीकार की जायगी आवश्यकता है धैर्य, त्याग, लगन से कार्य करने की। सफलता तो ध्रुव है।

रामराज्य परिषद् और स्वतन्त्र पार्टी

गत २ अगस्त को बम्बई में स्वतन्त्र पार्टी के संगठन से परिषद् के कार्यकर्त्ताओं तथा देश के कुछ विचारकों के सामने यह प्रश्न आया कि स्वतन्त्र पार्टी ने उन सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया जिन पर परिषद् कार्य कर रही थी। लेकिन पार्टी के २१ सूत्रों को देखने पर ज्ञात हुआ कि बात ऐसी नहीं है। अर्ध सत्य पूर्ण सत्य से भयंकर होता है पार्टी ने इस

प्रकार का अर्ध सत्य प्रस्तुत किया है जिससे भ्रम हो जाना कठिन नहीं है। अतएव आवश्यक जान पड़ा कि दोनों संस्थाओं के जो मूल भेद हैं उन्हें सामने रखा जाय जिससे दोनों के लक्ष्य और आधार स्पष्ट हो जायँ। २१ सूत्रों में कुछ सूत्र मूल भूत हैं जिनके आधार पर व्यावहारिक सूत्रों का निर्माण किया गया है। अतएव उन्हीं मूलभूत सूत्रों की विवेचना क्रमशः करना आवश्यक है। आशा है इससे दोनों संस्थाओं के भाव स्पष्ट हो जायंगे।

१—सामाजिक न्याय की उपलब्धि में स्वतन्त्रदल जाति, धर्म व्यवसाय, राजनीतिक भेद नहीं करना चाहता। सामाजिक न्याय एक ऐसा शब्द है जिसकी व्याख्या निश्चित नहीं है। सभी राजनीतिक विचार के लोग उसकी व्याख्या अपने आधार पर करते हैं। मार्क्सवादी भी सामाजिक न्याय मानते हैं; किन्तु उनकी धारणा स्वतन्त्र दल के लोगों को मान्य होगी, ऐसा विश्वास नहीं होता। अतएव सामाजिक न्याय के रूप और आधार के विषय में स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है। सामाजिक न्याय के साथ ही अवसर की समानता भी लगा दिया गया है। इससे यह भी ध्वनित हो रहा है कि सामाजिक न्याय की स्वतन्त्र दल ऐसी व्यवस्था करता है जिसमें अवसर की समानता अलग से समझी जा सकती है, यदि उसका सम्बन्ध राजनीतिक स्वत्वों से है तो सम्भव है उसमें जाति, व्यवसाय आदि का प्रश्न न आये, किन्तु जब उसका सम्बन्ध समाज से होगा तो इस प्रश्न को राजनीतिक संघटन सुलझा दे। यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर विचार अपेक्षित है। स्वतन्त्र दल राज्य के हस्तक्षेप को कम से कम मानता है। किन्तु समाज के विषय में वह राजनीतिक दल अर्थात् राज्य के अधिकार को मानता है। इस अवस्था में उसका समाजवादी सर्वग्राही राज्य के साथ सामाजिक प्रश्न पर मूल भूत अंश में क्या भेद रहा? स्वतन्त्र पार्टी ने सामाजिक न्याय की जब कोई परिभाषा नहीं

दी और उसमें राज्य का हस्तक्षेप मान रही है तो स्पष्ट है कि विवाह, उपासना आदि को यह मान कर उसमें राज्य हस्तक्षेप को प्रश्रय देगी।

२—इसमें आकर स्वतन्त्र दल ने वही रुख अपनाया जो कि हमने ऊपर कहा है। वह जनता के कल्याण और प्रगति के लिए वैयक्तिक प्रेरणा और क्षमता को मुख्य आधार मानता है। यदि वह न्यूनतम् राज्य हस्तक्षेप की नीति को मान्यता दे रहा है तो सामाजिक कार्यों में वह राज्य या राजनीतिक संघटनों को क्यों महत्त्व दे रहा है। वस्तुतः वैयक्तिक क्षमता और प्रेरणा के आधार पर व्यक्ति के सुख, प्रगति और कल्याण, उद्योग को नहीं छोड़ा जा सकता। अति व्यक्तिवाद और अति सामाजवाद और अति समाजवादी मनोवृत्ति से बच कर हमें व्यक्ति, समाज और राज्य के सम्बन्धों में प्राचीन भारतीय व्यवस्था के अध्ययन और प्रयोग पर ध्यान देना आवश्यक होगा। इस सूत्र से भीष्म, मनु, याज्ञवल्क्य और कौटल्य की अपेक्षा स्वतंत्र पार्टी मिल के अधिक निकट है। जिसकी निर्बाध वैयक्तिक स्वतंत्रता के हम पक्षपाती नहीं।

३—इस सूत्र में दो पक्ष हो गये हैं। प्रथम में कहा गया है कि क़ानून तथा अन्य प्रतिबन्धक उपायों का अवलम्बन करने के स्थान पर राज्य को मनुष्य के मन में निहित तथा परम्परा से प्राप्त उन सेवा वृत्तियों का उपयोग करना चाहिए जिनके पालन में उसे नैतिक श्रेष्ठता, गौरव सन्तोष और आत्म पूर्ति का अनुभव होता है। प्रतिबन्धक उपायों का तात्पर्य है जनता की सद्वृत्तियों पर अविश्वास करना तथा उसे एक राजनीतिक पार्टी का दास बनाना।" इसके समाधान के लिए द्वितीय पक्ष में कहा गया है कि "इसलिए पार्टी गान्धी जी द्वारा प्रतिपादित ट्रूस्टी शिप के सिद्धान्त में विश्वास करती है।

प्रथम पक्ष में मनुष्य में निहित भावना और परम्परा को महत्त्व दिया गया है। लेकिन यदि इन दोनों में विरोध उत्पन्न हो गया तो किस आधार पर सेवा वृत्तियों का उपयोग करना चाहिए इस पर ध्यान नहीं दिया गया।

वस्तुतः मनुष्य में मन में निहित भाव तथा परम्परा इनके औचित्य का निर्णय किसी लक्ष्यपूर्ण आधार पर किया जाना चाहिए। 'ये स्वयं में आधार नहीं हैं। यदि आधार नहीं तो मनुष्य के मन में निहित भाव तथा परम्परा दोनों अनिर्दिष्ट दिशा में भी जा सकते हैं जिसका सम्बन्ध जीवन के लक्ष्यहीन स्वरूप में पहुँच सकता है। फलतः उसकी नैतिक एकता, गौरव सन्तोष और आत्मपूर्ति का अनुभव नहीं भी हो सकता। वस्तुतः इस धारणा से पश्चिम की १९वीं शती की 'यद्भाव्यं नीति' का समर्थन होता है। परिषद परम्परा और मानवीय स्वभाव दोनों का निश्चित संविधान के आधार पर आदर करती है। यदि वे दोनों शाश्वत संविधान की धारणा के विपरीत हैं तो उनमें संशोधन भी किया जा सकता है। फलतः एक जीवन का लक्ष्य निश्चित होता है और उसकी उपलब्धि में ही परम्परा और मानवीय स्वभाव का उपयोग हो पाता है। इस आदर्शवादी धारणा में ही वास्तविक वैयक्तिक क्षमता का निवास और स्वतन्त्रता का प्रयोग सम्भव हो सकता है। अन्यथा व्यक्ति के मनोभाव परस्पर विरुद्ध होकर समष्टि व्यवहार का रूप ही नहीं ले सकते।

अपने प्रथम पक्ष की पूर्ति के लिए स्वतन्त्र दल ने गान्धीजी के ट्रस्टी सिद्धान्त को आधार बनाया है। पहली बात तो यह है कि ट्रस्टी शिप का विचार गान्धी जी के समय ही अव्यावहारिक सिद्ध हो चुका था और उसका स्पष्टीकरण उस समय भी नहीं हो पाया था। जब सिद्धान्त व्याख्या सापेक्ष हो जाते हैं तो व्याख्याओं में मतभेद हो जाने पर सत्पक्ष ग्रहण करने में असमर्थता होती है। ट्रस्टी शिप के सिद्धान्त की भी यही हालत है। दूसरी बात यह है कि क्या प्रथम पक्ष में उपस्थित धारणा का मेल गान्धीजी के ट्रस्टी शिप के साथ बैठता है। स्पष्टीकरण के लिए गान्धी जी द्वारा प्रस्तुत ट्रस्टी शिप के सूत्रों को ज्यों का त्यों यहाँ उद्धृत कर देना आवश्यक है—

'१—ट्रस्टी शिप वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित समाज को

कल्याणकारी समाज में परिवर्तित करने का एक साधन है। इसमें पूँजीवाद का कोई स्थान नहीं होता है। इतना अवश्य है कि वर्तमान स्वामित्व प्राप्त वर्ग को सुधरने का अवसर अवश्य देता है। यह इस आस्था पर आधारित है कि मानवीय स्वभाव में सुधार किया जाना असम्भव नहीं है।

२—इसमें सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के आधार को समाज के हित में उपयोगी (अधिकारों) के अतिरिक्त मान्यता नहीं दी जा सकती।

३—इसमें सम्पत्ति के स्वामित्व और उपयोग के नियमन की बात भी असम्मिलित नहीं है।

४—अतः राज्य द्वारा नियमित ट्रस्टी शिप में, कोई भी व्यक्ति अपने स्वार्थ की तृप्ति के लिए अथवा समाज के हित के विरुद्ध सम्पत्ति अपने पास नहीं रख सकता और न उसका उपयोग ही कर सकता है।

५—जिस प्रकार जीवनयापन का उचित न्यूनतम वेतन निर्धारित करने का सुझाव दिया गया है उसी प्रकार समाज में किसी भी व्यक्ति द्वारा उपार्जित की जानेवाली आय की उच्चतम सीमा भी निश्चित की जानी चाहिए। ऐसी न्यूनतम और उच्चतम आय में जो अन्तर हो वह उचित हो और समता पर आधारित हो, साथ ही समय-समय पर उसमें परिवर्तन होते रहना चाहिए जिनमें इस अन्तर को पूर्णतः समाप्त करने का झुकाव हो।

६—इस सूत्र के आधीन समाज की आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन कार्यक्रम निश्चित होगा न कि निजी सनक या लोभ-लालच के आधार पर उक्त छ सूत्रों के लिखने का यहाँ मात्र इतना ही सम्बन्ध है कि क्या स्वतन्त्र पार्टी के व्यक्तिगत उद्योग के लिए इसमें स्थान है ? क्या इसमें परम्परा या मानव के मन में निहित भाव को स्थान दिया गया है। यहाँ तक कि राज्य के न्यूनतम हस्तक्षेप के विपरीत स्पष्ट ही राज्य द्वारा नियन्त्रित ट्रस्टी शिप की बात कही गयी है। इसमें जहाँ तक वैयक्तिक सम्पत्ति का

प्रश्न है उसका स्वत्व समाज से बाहर कुछ नहीं है। व्यक्ति को केवल सुधरने का अवसर दिया गया है, वह भी केवल उस समय तक जब तक राज्य शक्ति हाथ में न आ जाय। राज्य शक्ति हाथ में आने पर राज्य नियन्त्रित ट्रस्टी शिप का रूप शुद्ध समाजवादी हो जाता है जिसका विरोध करने के लिए स्वतन्त्रपार्टी कटिबद्ध है।

ट्रस्टी शिप का सिद्धान्त एक प्रकार से स्वतन्त्रपार्टी का मूलाधार है। लेकिन उसके लिए पार्टी ने अपने अन्य सूत्रों को पूरक नहीं बनाया, प्रत्युत उसके प्रत्येक सूत्र इसका विरोध करते हैं। विशेषकर ६, १०, ११ सूत्र ऐसे हैं जो ट्रस्टी शिप सिद्धान्त के विपरीत आर्थिक आयोजन प्रस्तुत करते हैं और वे ही मुख्य रूप से आर्थिक समस्या के समाधान रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

ट्रस्टी शिप के साथ जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम मानते हैं कि ट्रस्टीशिप के द्वारा वैयक्तिक सम्पत्ति की सुरक्षा सम्भव नहीं। ट्रस्टी सम्पत्ति के विक्रय, दान, उत्तराधिकार आदि के अंश में स्वत्व नहीं रखता, जब कि वैयक्तिक सम्पत्ति के ये ही मुख्य अंग हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्वतन्त्र दल विकेन्द्रीकरण मानता है। इस अवस्था में ग्रामों से लेकर नगरों तक छोटे उद्योगों से लेकर बड़े उद्योगों तक ट्रस्टियों की नियुक्ति का चुनाव होगा या वे वंशानुगत होंगे? वंशानुगत ट्रस्टी ये शब्द ही परस्पर विरुद्ध हैं। वंशानुगत ट्रस्टी होता ही नहीं। यदि वंश वंशानुगत है तो ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त न होकर केवल भाव है अतएव व्यवहार में उसका कोई मूल्य नहीं, चुनाव या नियुक्ति के आधार पर आये हुए ट्रस्टी कुटुम्ब कुटुम्ब में होंगे या समाज की इकाईयों में है यदि कुटुम्ब कुटुम्ब में ट्रस्टियों का चुनाव प्रारम्भ हुआ तो वह उपहास से अधिक कुछ नहीं होगा। यदि समूह या समाज की इकाईयों के ट्रस्टी की बात सोची जाती है तो वह कम्यूनों की वही व्यवस्था है जिसका प्रयोग कम्यूनिस्ट करना

चाहते हैं और स्वतन्त्र पार्टी उनका शत्रु नम्बर १ है। स्वतन्त्र पार्टी के विधायक चाहे जो सोचें किन्तु सिद्धान्तों के व्यवहार और विकास परम्परा से यही निष्कर्ष प्रस्तुत होता है।

परिषद ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के स्थान पर व्यक्ति स्वामित्व और स्वत्व के सिद्धान्त को मानती है। जिसमें उसे सम्पत्ति के वैध संरक्षण सम्वर्धन, दान, विक्रय, उत्तराधिकार आदि की पूर्ण स्वतन्त्रता रहे। वैधता के तात्पर्य में ही लाभ पर नियन्त्रण, उसके वितरण, तथा उत्पादन की दिशा का निर्धारण इस रूप में होता है कि व्यष्टि समष्टि दोनों के हित का समन्वय सम्भव हो जाता है।

४—पार्टी की मान्यता है कि "जनता में विश्वास के ही आधार पर शासकीय नीतियों का निर्माण किया जाना चाहिए। राजकीय प्रतिबन्ध, वर्ग और जातिविद्वेष, कर्तव्यों की अवहेलना तथा नागरिक स्वतन्त्रता के मूल्य पर शासनाधिकारियों के अधिकार बढ़ाकर शासन को सफल बनाने की नीति अनुचित है।' लेकिन जनता में विश्वास का आधार ही क्या हो? यदि जनता में जाति और वर्ग विद्वेष ही आधार हो जाय तो क्या शासन को उसी आधार पर चलना पड़ेगा?

पार्टी के प्रत्येक सूत्र से ध्वनित होता है कि उसके पास जीवन का लक्ष्य और आधार नहीं है। फलतः वह जनता के विश्वास और मनोभाव आदि शब्दों की आड़ में जनतन्त्र की अनौपचारिक स्वतन्त्रता का समर्थन करती है। वस्तुतः······जनता के विश्वास और मनोभाव बुरे और भले दोनों हो सकते हैं। उनका किसी आधार पर ही प्रयोग किया जाना चाहिए। पार्टी इसके स्पष्टीकरण की ओर ध्यान ही नहीं दे रही है।

५—पार्टी आध्यात्मिक मूल्यों को स्थिर रखने, बढ़ाने तथा अपनी संस्कृति एवं परम्परा में जो कुछ अच्छा है उसे सुरक्षित रखने में विश्वास रखती है इसीलिए वह जड़वादी दर्शन को रोकना चाहती है। यहाँ दो बातें

विचारणीय हैं। पहली तो यह कि आध्यात्मिक मूल्यों को स्थिर रखने तथा बढ़ाने के लिए अपनी संस्कृति में जो कुछ "अच्छा" का क्या तात्पर्य ? कितना अंश भला है कितना अंश बुरा इसका आधार क्या होगा ? यदि वेद शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के मनमानी आधार को माना गया तो वह परिषद् की धारणा के विपरीत होगा। आगे चलकर पार्टी ने गांधी जी तथा उनके विचारों को अपना मार्गदर्शक माना है। फलतः अपनी संस्कृति में जो कुछ अच्छा का भी आधार गान्धी जी की शिक्षायें ही होंगी। स्पष्ट है कि इस प्रकार के आधार से किसी भी संस्कृति की अच्छाई और बुराई का वास्तविक निर्णय नहीं हो सकता। जो कुछ होगा वह भ्रांतिमूलक ही है।

दूसरी बात आध्यात्मिक मूल्यों के स्थिर करने और जड़वादी दर्शन के रोकने के लिए है। आध्यात्मिक मूल्यों से तथा धार्मिक भावों से पार्टी का क्या अभिप्राय है। स्पष्ट नहीं होता। क्या विद्यालयों में प्रातःकाल प्रार्थना करा देने तथा कुछ महात्माओं के जो गांधी जी की शिक्षा के अनुरूप हों, जीवन चरित्र पढ़ा देने से ही आध्यात्मिक मूल्यों की स्थिरता सम्भव है। पार्टी एक ओर आध्यात्मिक मूलों को आवश्यकता स्वीकार करती है, और दूसरी ओर गोवधबन्दी योजना को अस्वीकार करती है। भारत में गोवधबन्दी की धार्मिक प्रश्न मानने में असमर्थ स्वतन्त्र पार्टी अपने को धार्मिक प्रश्नों के लिए प्रतिनिधि संस्था बनाने की घोषणा करे यह कम आश्चर्य की बात नहीं।

वस्तुतः आध्यात्मिक मूल्यों की अस्थिरता के लिए आवश्यक है कि राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, कला आदि सभी को धर्म के आधार पर स्थिर करना होगा। उनके संघटन और विचार इसी रूप में ढालने पड़ेगें। इसके लिए पार्टी के कोई सूत्र क्रियाशील नहीं, न तो उनका धार्मिक भावों के साथ का तारतम्य है। परिषद और स्वतन्त्र पार्टी में यह

मूल भूत भेद है जिससे सभी भेद उत्पन्न हो गये। परिषद धर्म, नियन्त्रित व्यक्ति, समाज और राज्य को मानती है तभी आध्यात्मिक मूल्यों की स्थिरता और जड़वादी दर्शन का प्रतिरोध सम्भव होगा।

६—पार्टी वैयक्तिक उद्योगों पर बल देते हुए मानती है कि सम्विधान के मूल भूत अधिकारों तथा सुरक्षाओं का, जो सम्पत्ति व्यापार और नौकरी तथा राज्य द्वारा सार्वजनिक कार्यों में किसी की सम्पत्ति ली जाने की दशा में उसे समुचित मुआवजा प्रदान करने के सम्बन्ध में स्वीकृत की जा चुकी है, पूर्ण रूपेग पालन किया जाय।" यदि वैयक्तिक उद्योग को स्वतन्त्र दल मानता है तो लाभ के प्रश्न पर उसका क्या अभिप्राय है? यदि लाभ पर ध्यान नहीं दिया जाता तो यह पूँजीवादी शोषण का प्रतीक होगी जिसे हम भारतीय संस्कृति और परम्परा से अनुकूल मानने में असमर्थ हैं। यदि उसका सम्बन्ध ट्रस्टीशिप के साथ लगाया गया तो उसमें वैयक्तिक उद्योगों की वैसी अवस्था, जिसमें स्वत्व हो, का कोई सम्बन्ध नहीं। संविधान में समुचित मुआवजा नहीं केवल मुआवजा शब्द है। यदि मुआवजा के द्वारा ही सम्पत्ति लेने का अधिकार राज्य का बना रहा तो सम्विधान के माध्यम से वैयक्तिक सम्पत्ति की सुरक्षा कथमपि सम्भव नहीं। सम्विधान को पार्टी मानने के लिए तैयार है। लेकिन सम्विधान में यह स्थिति बनी है कि संसद जो चाहे कर सकती है। फलतः उसमें परिवर्तन सम्भव है और हुआ है। अतएव पार्टी की उक्त मान्यताओं के स्थान पर परिषद मानती है कि वैयक्तिक उद्योगों की स्थापना के साथ उनके लाभ का धर्म, यश, अर्थ, मूल सम्पत्ति, स्वजन तथा पूँजी लगाने वाले के लिए पांच विभाग कर उसका वितरण किया जाय। सम्विधान के आधार पर नहीं मनु, याज्ञवल्क्य तथा तथा अपने धार्मिक आधारों पर वैयक्तिक स्वत्व की रक्षा की जाय।

७—पार्टी प्रतियोगी उद्योग के द्वारा उत्पादन बढ़ाने तथा विकास करने में विश्वास रखती है। व्यापार के क्षेत्र में राज्य के प्रवेश का विरोध करती

है। उत्पादन के क्षेत्र में उत्पादक और उपभोक्ता को स्वतन्त्र चयन का मूलभूत अधिकार मानती है। लेकिन इनसे उत्पन्न होने वाले शोषण के अवसरों पर प्रतिबन्ध की बात नहीं सोचती। उसके विपरीत परिषद व्यापार और उद्योग तथा मूल्य निर्धारण में भी राज्य के हस्तक्षेप को मानती है। यदि नियमों तथा सामाजिक कल्याण की भावना से परे उद्योग, व्यापार की नीति हो तो राज्य हस्तक्षेप करके उन्हें सन्तुलित करे। कुछ अवसरों पर जब निजी पूंजी के प्रयोक्ता लाभ के लिए बाजार में, जैसा कि उत्पादक और उपभोक्ता के स्वतन्त्र चयन में अधिक सम्भव है, शोषण के कारण बनने लगे तो राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य है। इतना अवश्य है कि राज्य उत्पादन क्षेत्र में स्वयं प्रतियोगी न बने न इस दृष्टि से इन क्षेत्रों में प्रवेश करें।

परिषद् की दृष्टि से जहाँ साधनों तथा अन्य सुविधाओं के अभाव में निजी उद्योग के स्थापन में बाधा और कठिनाई हो राज्य स्वयं उद्योगों की स्थापना कर सकता है। साथ ही यदि निजी उद्योग तथा व्यापार सामाजिक सन्तुलन को हानि तथा स्वयं को लाभ पहुँचा रहे हैं तो उनमें भी राज्य के उद्योग तथा व्यापार स्थापित कर सकता है। लेकिन जब उक्त स्थितियाँ न हों, या समाप्त हो जाय तो राज्य को उद्योग व्यापार कृषि में प्रतियोगी के रूप में भाग नहीं लेना चाहिए।

८—करों के विषय में पार्टी ने वर्तमान सरकार की आलोचना तो की, किन्तु विकल्प में अपना कोई रूप नहीं रखा। परिषद् की स्पष्ट धारणा है कि कर उत्पादन के अनुपात और आधार पर लगाये जायँ। कर वस्तु की उत्पादन क्षमता तथा उससे होने वाले लाभ पर लगाना आवश्यक है। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिन पर ७५ प्रतिशत तक कर लगाया जा सकता है। साथ ही कुछ व्यक्ति या समाज ऐसे हैं जिन पर कर लगाया ही नहीं जा सकता। क्योंकि वे किसी ऐसे उत्पादन में संलग्न नहीं जिनसे

लाभ हो। फलतः बुद्धिजीवी तथा श्रमजीवियों से राष्ट्र के लिए बुद्धि तथा श्रम सम्बन्धी सेवा ले ली जाय और उनको कर भार से मुक्त किया जाय। तथा जो उत्पादन के साधनों से लाभ अर्जित कर रहे हैं उन्हें उत्पादन क्षमता से कर की व्यवस्था की जाय।

९—पार्टी सभी विषयों में अपने समक्ष गांधी जी की शिक्षाओं से मार्गदर्शन प्राप्त करेगी। इसका तात्पर्य है कि गान्धी जी के सिद्धान्त ही स्वतन्त्र पार्टी के वर्तमान तथा भविष्य की नीतियों के निर्धारक हैं। लेकिन गान्धी जी के सिद्धान्त स्वयं में कभी स्पष्ट हो सके हैं ? नेहरू जी गांधी जी के राजनीतिक उत्तराधिकारी माने जाते रहे। स्वतन्त्र दल नेहरू की कांग्रेस को गान्धी जी की कांग्रेस नहीं मान रहा है। नेहरू जी स्वतन्त्र दल को गान्धी जी से असम्बद्ध मानते हैं। इस प्रकार स्वतन्त्र दल और नेहरू जी की कांग्रेस में कौन गान्धी जी के सिद्धान्तों पर है कौन नहीं इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है। जब आज ही ऐसी स्थिति है तो भविष्य में क्या होगा, इसका अनुमान लगाना अत्यन्त सरल है।

वस्तुतः किसी व्यक्ति के सिद्धान्त तात्कालिक होते हैं उनके आधार पर किसी भविष्य की वार्ता सोचना कठिन होता है। अतएव परिषद किसी व्यक्ति के सिद्धान्तों के आधार को न स्वीकार कर त्रिकालाबाधित वेदादि शास्त्रों के आधार को ही मानती है। गान्धी जी के विचार जितने अंश में उनके अनुकूल हों उनका ग्रहण स्वयं हो जायगा। यदि वे प्रतिकूल हैं तो उनको स्वीकार करने की आवश्यकता ही क्या ?

यही कारण है कि परिषद धर्म नियन्त्रित ऐसे राज्य की स्थापना करना चाहती है जिसमें आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, एवं आर्थिक सिद्धान्तों का पूर्ण संरक्षण एवं सक्रिय प्रवर्त्तन सम्भव हो। फलतः वर्तमान सम्विधान में संशोधन कर उसे शास्त्रों के आधार पर धर्म नियन्त्रित बनाना आवश्यक है। राज्य में हस्तक्षेप न करे अतएव धर्म में हस्तक्षेप करनेवाले

हिन्दू विवाह, तलाक, उत्तराधिकार, मन्दिर प्रवेश आदि कानूनों को रद्द किया जाय गोवध वैधानिक रूप से बन्द हो। भारतीय धर्मशास्त्रों एवं राजनीतिक शास्त्रों के अनुसार व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति का संरक्षण, शास्त्रीय मार्ग से वितरण करके आर्थिक असन्तुलन दूर किया जाय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्टी सभी प्रकार की संगतियों आधार तथा लक्ष्य से स्वतन्त्र है। सम्भवतः इसीलिए उसका नाम स्वतन्त्र ! रखा गया। अन्यथा स्वतन्त्र पार्टी के नाम का कोई तात्पर्य ही नहीं स्पष्ट होता। पार्टी के कुछ अपने तो नियम होंगे। वह उनमें तो परतन्त्र अवश्य होगी। लेकिन स्वतन्त्र पार्टी उससे भी स्वतन्त्र दिखाई पड़ती है। तभी तो हिन्दू महासभा के भूतपूर्व अध्यक्ष और मुस्लिम लीग के कार्यकर्त्ता एक साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर कार्य करेंगे परिणाम तो भविष्य पर है।

मुद्रक—रामनिधि त्रिपाठी, मायापति प्रेस, मध्यमेश्वर, वाराणसी।

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन